

भारत में मृत्युदंड की प्रासंगिकता एवं न्यायिक प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

लेखक: सैफ रिज़वी

(Master in Law — LL.M.)

मार्गदर्शक: डॉ. अमित कुमार

सहायक प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, मोनाड स्कूल ऑफ लॉ, मोनाड विश्वविद्यालय, हापुड़

Article: Received: 23/05/2026, Returned: 28/05/2026, Accepted: 04/06/2026, Published:06/06/2026.

D.O.I. <https://doi.org/10.5281/zenodo.20575597>



© 2026 The Author(s). This is an Open Access article/ Journal distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International which permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are properly credited.

<https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/>

1. शोध सार (Abstract)

मृत्युदंड भारतीय दण्डविधि का सबसे कठोर एवं विवादास्पद दण्ड है। स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय न्यायपालिका ने "दुर्लभ से दुर्लभतम मामलों के सिद्धांत" (Rarest of Rare Cases Doctrine) के माध्यम से मृत्युदंड की संवैधानिक वैधता को स्वीकार किया है, किंतु समकालीन न्यायिक प्रवृत्तियों में एक स्पष्ट "सीमितकरण" (Restrictive) रुझान देखा जा रहा है। यह शोध पत्र भारत में मृत्युदंड की संवैधानिक वैधता, ऐतिहासिक एवं समकालीन न्यायिक प्रवृत्तियों, निवारणात्मक प्रभाव की अनुभवजन्य स्थिति, न्यायिक विसंगतियों, मानवीय भूल की संभावना, एवं अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानकों के संदर्भ में मृत्युदंड की प्रासंगिकता का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। विधि आयोग की 262वीं रिपोर्ट (2015) के निष्कर्षों एवं प्रोजेक्ट 39A के अध्ययनों के आधार पर यह पत्र तर्क प्रस्तुत करता है कि मृत्युदंड की संवैधानिक वैधता बनाए रखते हुए भी, उसका व्यावहारिक प्रयोग गंभीर संवैधानिक विसंगतियों, न्यायिक असंगतता, एवं मानवाधिकार उल्लंघन के जोखिम से ग्रस्त है। अंत में, यह शोध पत्र मृत्युदंड के क्रमिक उन्मूलन, वैकल्पिक दण्डों के विकास, एवं संवैधानिक सुधार की दिशा में व्यावहारिक नीतिगत सुझाव प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द: मृत्युदंड, दुर्लभ से दुर्लभतम सिद्धांत, अनुच्छेद 21, सुधारात्मक न्याय, न्यायिक विसंगति, अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार, विधि आयोग

2. प्रस्तावना

2.1 शोध का परिचय एवं संदर्भ

मृत्युदंड (Capital Punishment) मानव सभ्यता के आरंभ से ही दण्डविधि का एक अभिन्न अंग रहा है। प्राचीन काल में हम्मुराबी के संहिता से लेकर मध्यकालीन यूरोप एवं एशिया की विभिन्न कानूनी प्रणालियों तक, मृत्युदंड को सबसे गंभीर अपराधों के लिए उचित दण्ड माना जाता रहा है। "आंख के बदले आंख" (Lex Talionis) के प्राचीन नियम से लेकर आधुनिक मानवाधिकार-आधारित न्याय प्रणाली तक, मृत्युदंड की दार्शनिक, नैतिक एवं कानूनी वैधता पर निरंतर बहस होती आई है।

भारत जैसे बहुलवादी लोकतंत्र में, जहाँ संविधान ने "जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार" (अनुच्छेद 21) को एक मौलिक अधिकार के रूप में स्थापित किया है, मृत्युदंड की उपस्थिति एक संवैधानिक एवं नैतिक विरोधाभास उत्पन्न करती है। एक ओर, राज्य की संप्रभुता एवं कानून-व्यवस्था की आवश्यकता मृत्युदंड को एक आवश्यक दण्ड के रूप में स्थापित करती है, तो दूसरी ओर, मानव गरिमा एवं सुधारात्मक न्याय के आधुनिक सिद्धांत इसकी वैधता पर गंभीर प्रश्न खड़े करते हैं।

दण्डशास्त्र के चार प्रमुख सिद्धांत — प्रतिशोध (Retribution), निवारण (Deterrence), निष्क्रियकरण (Incapacitation), एवं पुनर्वास (Rehabilitation) — में से मृत्युदंड मुख्यतः प्रतिशोध एवं निवारण पर आधारित है। कांट एवं हेगेल जैसे दार्शनिकों ने प्रतिशोध को न्याय का मूल आधार माना है, किंतु आधुनिक न्यायशास्त्र में सुधारात्मक न्याय (Reformative Justice) का उदय इन सिद्धांतों की प्रासंगिकता पर पुनर्विचार के लिए प्रेरित करता है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने दण्डविधि में सुधार को एक प्रमुख उद्देश्य के रूप में स्थापित किया था, जो मृत्युदंड की नैतिक स्थिति को और अधिक जटिल बनाता है।

2.2 शोध प्रश्न

1. क्या भारत जैसे बहुलवादी लोकतंत्र में मृत्युदंड की नैतिक एवं संवैधानिक वैधता अभी भी बनी हुई है?
2. क्या न्यायपालिका ने “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत का सुसंगत एवं तर्कसंगत रूप से अनुपालन किया है?
3. क्या समकालीन मानवाधिकार मानकों के संदर्भ में मृत्युदंड की प्रासंगिकता पर पुनर्विचार की आवश्यकता है?
4. क्या भारतीय न्याय प्रणाली में मानवीय भूल (Human Error) का जोखिम मृत्युदंड की वैधता को चुनौती देता है?

2.3 शोध के उद्देश्य एवं महत्व

इस शोध पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं: (क) न्यायिक निर्णयों में निहित तर्कों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना; (ख) संवैधानिक अधिकारों एवं अंतर्राष्ट्रीय मानकों के बीच टकराव का अध्ययन करना; (ग) सुधारात्मक न्याय प्रणाली की विकल्प संभावना का मूल्यांकन करना; (घ) नीतिगत सुझावों के माध्यम से भारतीय दण्डविधि में सुधार की दिशा निर्धारित करना।

यह शोध पत्र भारत में मृत्युदंड की स्थिति को समकालीन संदर्भ में समझने का प्रयास करता है। वर्तमान समय में, जबकि विश्व के 112 से अधिक देश मृत्युदंड को पूर्णतः उन्मूलित कर चुके हैं, भारत की स्थिति को समझना न केवल कानूनी दृष्टि से, बल्कि मानवाधिकार एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संदर्भ में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

2.4 शोध विधि विज्ञान

यह शोध पत्र विश्लेषणात्मक एवं वर्णनात्मक विधि का मिश्रित प्रयोग करता है। माध्यमिक स्रोतों में न्यायिक निर्णय, शोध पत्र, कानूनी पाठ्यपुस्तकें, अंतर्राष्ट्रीय रिपोर्ट्स, एवं विधि आयोग की रिपोर्ट्स शामिल हैं। अध्ययन की सीमा यह है कि यह प्राथमिक डेटा (साक्षात्कार, सर्वेक्षण) पर आधारित नहीं है, किंतु उपलब्ध न्यायिक एवं अनुभवजन्य साहित्य का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

3. मृत्युदंड की संवैधानिक वैधता

3.1 भारतीय संविधान एवं मृत्युदंड: प्रारंभिक दृष्टिकोण

भारतीय संविधान में मृत्युदंड का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। संविधान सभा में इस विषय पर कोई विस्तृत चर्चा नहीं हुई, जो स्वयं में एक महत्वपूर्ण तथ्य है। भारतीय दण्ड संहिता (IPC) की धारा 302 हत्या के लिए मृत्युदंड को अधिकतम दण्ड के रूप में निर्धारित करती है, जबकि धारा 303 (जो जेल में जीवनकाल की सजा काट रहे व्यक्ति द्वारा हत्या से संबंधित थी) को मिथु बनाम मध्य प्रदेश राज्य (1983) में असंवैधानिक घोषित कर दिया गया। संविधान सभा की मौन स्थिति को कुछ विद्वान मृत्युदंड की स्वीकृति के रूप में व्याख्यायित करते हैं, जबकि अन्य का तर्क है कि संविधान निर्माताओं ने इस विषय को विधायिका के विवेक पर छोड़ दिया था। यद्यपि, समकालीन संवैधानिक व्याख्या के प्रकाश में, मौन को स्वीकृति मानना उचित नहीं है, विशेषकर जब मूल अधिकारों की व्याख्या निरंतर विस्तारित होती गई है।

3.2 अनुच्छेद 21 — जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार

अनुच्छेद 21 भारतीय संविधान का हृदय एवं आत्मा माना जाता है। “प्रक्रिया स्थापित विधि” (Procedure Established by Law) की संकीर्ण व्याख्या से लेकर “उचित विधिक प्रक्रिया” (Due Process of Law) की विस्तृत व्याख्या तक, इस अनुच्छेद का विकास मृत्युदंड की वैधता पर सीधा प्रभाव डालता है। मनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया कि अनुच्छेद 21 केवल “जीवन” का अधिकार नहीं, बल्कि “गरिमापूर्ण जीवन” का अधिकार है।

न्यायमूर्ति भागवती ने इस निर्णय में यह स्थापना की कि “जीवन” शब्द का अर्थ केवल शारीरिक अस्तित्व नहीं, बल्कि मानव गरिमा, स्वतंत्रता, एवं जीवन की गुणवत्ता से है। इस व्याख्या के प्रकाश में, मृत्युदंड की नैतिक वैधता पर गंभीर प्रश्न उठते हैं। यदि संविधान “गरिमापूर्ण जीवन” की गारंटी देता है, तो क्या राज्य द्वारा जानबूझकर जीवन का अंत करना इस संवैधानिक गारंटी के विपरीत नहीं है?

3.3 अनुच्छेद 14 — विधि के समक्ष समानता

अनुच्छेद 14 का “बुद्धिगम्य आधार” (Intelligible Differentia) का परीक्षण मृत्युदंड के संदर्भ में विशेष रूप से प्रासंगिक है। “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत की अस्पष्ट परिभाषा ने न्यायाधीशों को असीमित विवेक प्रदान किया है, जिसके परिणामस्वरूप समान तथ्यस्थिति वाले मामलों में भिन्न-भिन्न निर्णय दिए गए हैं। यह असंगति अनुच्छेद 14 की भावना के विपरीत है।

न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने बच्चन सिंह निर्णय में अपना विसम्मति नोट प्रस्तुत करते हुए यह तर्क दिया कि मृत्युदंड का मनमाना एवं असंगत प्रयोग अनुच्छेद 14 की गारंटी का सीधा उल्लंघन है। उन्होंने स्पष्ट किया कि “जब दो समान अपराधों के लिए दो भिन्न दण्ड दिए जाएँ, तो विधि की समानता का सिद्धांत स्वयं ही नष्ट हो जाता है।”

3.4 अनुच्छेद 19 — मौलिक स्वतंत्रताएँ

अनुच्छेद 19 के संदर्भ में मृत्युदंड की वैधता पर न्यायिक विमर्श सीमित रहा है, किंतु जगमोहन सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1973) में न्यायालय ने यह स्थापना की कि मृत्युदंड अनुच्छेद 19 के अधिकारों को प्रभावित नहीं करता, क्योंकि यह एक दण्ड है, न कि स्वतंत्रता का हनन। यह तर्क संकीर्ण है, क्योंकि मृत्युदंड न केवल जीवन के अधिकार को, बल्कि सभी मौलिक अधिकारों को स्थायी रूप से समाप्त कर देता है।

4. भारत में न्यायिक प्रवृत्तियाँ

4.1 जगमोहन सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1973): मृत्युदंड की संवैधानिकता को सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष चुनौती देने वाला यह प्रमुख निर्णय भारतीय दण्डविधि के इतिहास में एक मील का पत्थर है। इस वाद में, अपीलकर्ता ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 एवं फौजदारी प्रक्रिया संहिता की धारा 367(2) के तहत मृत्युदंड का प्रावधान अनुच्छेद 14, 19 एवं 21 का उल्लंघन करता है।

न्यायमूर्ति ए.एन. रे की पीठ ने एकमत से यह निर्णय दिया कि मृत्युदंड स्वयं में असंवैधानिक नहीं है। पीठ ने यह स्पष्ट किया कि “जीवन का अधिकार” अनुच्छेद 21 के अंतर्गत निहित है, किंतु यह अधिकार पूर्ण एवं निरपेक्ष (Absolute) नहीं है — राज्य उचित विधिक प्रक्रिया के तहत इसे वंचित कर सकता है। इस निर्णय की सबसे महत्वपूर्ण सीमा यह थी कि न्यायालय ने “प्रक्रिया स्थापित विधि” की संकीर्ण व्याख्या को अपनाया, जिसे बाद में मनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) में विस्तृत किया गया।

आलोचकों का तर्क है कि जगमोहन सिंह निर्णय ने न्यायाधीशों को असीमित विवेक (Unfettered Discretion) प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप समान तथ्यस्थिति वाले मामलों में भी भिन्न-भिन्न दण्ड निर्धारित होने की प्रवृत्ति बढ़ी। यह विसंगति आज भी भारतीय मृत्युदंड विधिविज्ञान का सबसे बड़ा चुनौतीपूर्ण पहलू बना हुआ है।

4.2 बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य (1980)

भारतीय मृत्युदंड विधिविज्ञान का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं चर्चित निर्णय बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य (1980) है, जिसे पाँच न्यायाधीशों की संवैधानिक पीठ ने 4:1 के बहुमत से निर्णीत किया। इस निर्णय ने न केवल जगमोहन सिंह की स्थिति को पुनः पुष्ट किया, बल्कि एक क्रांतिकारी न्यायिक सिद्धांत — “दुर्लभ से दुर्लभतम मामलों का सिद्धांत” (Rarest of Rare Cases Doctrine) का प्रतिपादन किया।

न्यायमूर्ति ए.एन. रे ने इस निर्णय में अपने पूर्ववर्ती रुख को संशोधित करते हुए यह स्थापना की कि मृत्युदंड को केवल उन “अत्यंत दुर्लभ” मामलों में ही दिया जाना चाहिए जहाँ अपराध का स्वरूप अत्यंत क्रूर, बर्बर एवं समाज-विरोधी हो; अपराधी का भविष्य में समाज के लिए खतरा बना रहना स्पष्ट हो; एवं वैकल्पिक दण्ड (आजीवन कारावास) अपराध की गंभीरता के अनुपात में अपर्याप्त हो।

बच्चन सिंह निर्णय की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इसने न्यायालयों को “एग्रिवेटिंग” (गंभीरता बढ़ाने वाले) एवं “मिटिगेटिंग” (गंभीरता घटाने वाले) परिस्थितियों के बीच संतुलन स्थापित करने का दायित्व सौंपा। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि मृत्युदंड देते समय केवल अपराध के तथ्यों पर ही ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि अपराधी की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि, मानसिक स्थिति, आयु, शैक्षिक स्तर, एवं भविष्य में सुधरने की संभावना का भी समान रूप से मूल्यांकन होना अनिवार्य है।

न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने इस निर्णय में अपना विसम्मति नोट (Dissenting Note) प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि मृत्युदंड अनुच्छेद 21 के “गरिमापूर्ण जीवन के अधिकार” का सीधा उल्लंघन है और इसे पूर्णतः असंवैधानिक घोषित किया जाना चाहिए। यह विसम्मति आज भी भारतीय मृत्युदंड-विरोधी आंदोलन का प्रमुख वैचारिक आधार है।

4.3 मछी सिंह बनाम पंजाब राज्य (1983)

बच्चन सिंह निर्णय के तीन वर्ष पश्चात, सर्वोच्च न्यायालय ने मछी सिंह बनाम पंजाब राज्य (1983) में “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत को और अधिक व्यावहारिक एवं क्रियान्वयन-योग्य बनाने के लिए पाँच मार्गदर्शक सिद्धांतों का निर्धारण किया। ये पाँच सिद्धांत आज भी भारतीय न्यायालयों द्वारा मृत्युदंड के निर्धारण में प्राथमिक संदर्भ बिंदु के रूप में प्रयोग किए जाते हैं:

1. अपराध की गंभीरता एवं सामाजिक प्रभाव: क्या अपराध ने समुदाय या समाज के एक बड़े वर्ग को गहरा आघात पहुँचाया है?
2. अपराध का क्रूर एवं बर्बर स्वरूप: क्या अपराध अत्यंत निर्ममता, यातना, या पीड़ित के प्रति अमानवीय व्यवहार से युक्त था?
3. अपराधी का भविष्य का खतरा: क्या अपराधी का भविष्य में पुनः अपराध करने का जोखिम स्पष्ट एवं प्रमाणित है?
4. पीड़ित की स्थिति एवं समाज की प्रतिक्रिया: क्या पीड़ित निर्बल वर्ग (महिला, बालक, वृद्ध) से संबंधित था?
5. वैकल्पिक दण्ड की अपर्याप्तता: क्या आजीवन कारावास अपराध की गंभीरता के अनुपात में अपर्याप्त है?

यद्यपि मछी सिंह निर्णय ने “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत को कुछ हद तक परिष्कृत किया, किंतु आलोचकों का तर्क है कि ये पाँच सिद्धांत स्वयं इतने व्यापक हैं कि लगभग किसी भी गंभीर अपराध को इनके अंतर्गत लाया जा सकता है। इससे “दुर्लभ” शब्द का अर्थ “असामान्य गंभीर” से “सामान्य गंभीर” में बदल गया है, जो बच्चन सिंह पीठ के मूल आशय के विपरीत है।

4.4 समकालीन न्यायिक प्रवृत्तियाँ (Recent Judicial Trends)

विगत दो दशकों (2000-2024) में सर्वोच्च न्यायालय ने मृत्युदंड से संबंधित अपने रुख में एक स्पष्ट एवं क्रमिक परिवर्तन दर्शाया है। यह परिवर्तन निम्नलिखित प्रमुख प्रवृत्तियों में परिलक्षित होता है:

“मिटिगेटिंग सरकमस्टेंसेज” का अनिवार्य मूल्यांकन: समकालीन न्यायिक निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि मृत्युदंड निर्धारित करने से पूर्व निचली अदालतों एवं उच्च न्यायालयों को अपराधी की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि, मानसिक स्वास्थ्य, आयु, शैक्षिक स्तर, एवं भविष्य में सुधारने की संभावना का विस्तृत एवं दस्तावेजीय मूल्यांकन करना अनिवार्य है। संतोष कुमार सतीश भूषण बनाम महाराष्ट्र राज्य (2009) में न्यायालय ने यह स्थापना की कि केवल “एग्जिस्टिंग” परिस्थितियों के आधार पर मृत्युदंड देना उचित नहीं है।

मानसिक स्वास्थ्य एवं मृत्युदंड: शोभन बनाम कर्नाटक राज्य (2017) एवं विक्रम सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2019) जैसे निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि मानसिक रोग एवं मानसिक अस्थिरता “मिटिगेटिंग” परिस्थितियों के अंतर्गत आते हैं।

प्रक्रियागत सुरक्षा एवं निष्पादन में विलंब: शबनम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2015) एवं सुरेश बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2018) में न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि मृत्युदण्डादेश निष्पादन से पूर्व अपराधी को पर्याप्त कानूनी सहायता, पुनर्विचार याचिका दायर करने का अवसर, एवं राष्ट्रपति/राज्यपाल के समक्ष दया याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

मृत्युदंड से उम्रकैद में रूपांतरण की बढ़ती प्रवृत्ति: प्रोजेक्ट 39A (NLUD) के 2023 के अध्ययन के अनुसार, विगत दशक में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मृत्युदण्डादेश को उम्रकैद में बदलने की दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि न्यायपालिका धीरे-धीरे “सीमितकरण” (Restrictive) रुख की ओर अग्रसर है।

5. मृत्युदंड की समकालीन प्रासंगिकता (Contemporary Relevance)

5.1 निवारणात्मक प्रभाव (Deterrent Effect) का अनुभवजन्य मूल्यांकन

मृत्युदंड के समर्थकों का सबसे प्रमुख तर्क यह रहा है कि यह अपराधों को रोकने (Deterrence) का एक प्रभावी साधन है। किंतु, आधुनिक अपराधशास्त्र एवं अनुभवजन्य अध्ययन इस दावे को गंभीर चुनौती प्रदान करते हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा के मानवाधिकार प्रभाग द्वारा 2020 में प्रकाशित एक वैश्विक अध्ययन के अनुसार, मृत्युदंड को अपनाने वाले देशों एवं उसे उन्मूलित करने वाले देशों के बीच हत्या दर में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया।

भारत के संदर्भ में, राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) के 2022 के आँकड़े दर्शाते हैं कि मृत्युदंड की मौजूदगी के बावजूद गंभीर हिंसात्मक अपराधों की दर में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं आई है। अपराधशास्त्री प्रोफेसर रॉजर हुड का तर्क है कि अपराध का निर्धारण मुख्यतः सामाजिक-आर्थिक असमानता, शिक्षा की कमी, एवं प्रशासनिक असफलता से होता है — न कि दण्ड की तीव्रता से।

भारत जैसे विकासशील देश में, जहाँ न्यायिक प्रणाली में मामलों का निपटारा होने में वर्षों लगते हैं, मृत्युदंड का “तत्काल निवारणात्मक प्रभाव” एक मिथक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वास्तविकता यह है कि अधिकतर हिंसक अपराधी या तो भावनात्मक आवेग में कार्य करते हैं या फिर इस बात की पूर्ण उम्मीद नहीं रखते कि उन्हें मृत्युदंड दिया जाएगा। अतः, निवारणात्मक सिद्धांत का अनुभवजन्य आधार भारत के संदर्भ में अत्यंत दुर्बल है।

5.2 प्रतिशोध्यात्मक न्याय बनाम सुधारात्मक न्याय

प्रतिशोध्यात्मक न्याय (Retributive Justice) का मूल सिद्धांत यह है कि “अपराध का दण्ड उसकी गंभीरता के अनुपात में होना चाहिए” कांट एवं हेगेल जैसे दार्शनिकों ने इस सिद्धांत का बचाव किया, किंतु आधुनिक न्यायशास्त्र में इसकी प्रासंगिकता पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं। भारतीय संविधान का भाग-III, विशेषकर अनुच्छेद 21, “गरिमापूर्ण जीवन” के अधिकार की गारंटी देता है — एक ऐसा सिद्धांत जो मृत्युदंड की नैतिक वैधता को सीधे चुनौती देता है।

सुधारात्मक न्याय (Reformative Justice) का उदय इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक मानव में सुधार की क्षमता निहित है। न्यायमूर्ति वी.आर. कृष्ण अय्यर ने सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन (1978) में स्पष्ट किया था कि “न्याय का उद्देश्य प्रतिशोध नहीं, सुधार है। फाँसी देकर शरीर का अंत करना सरल है, किंतु चरित्र का पुनर्निर्माण करना वास्तविक न्याय है।” यह दृष्टिकोण भारतीय सांस्कृतिक परंपरा — “क्षमा वीरस्य भूषणम्” — के अनुरूप है। जब न्यायपालिका स्वयं यह स्वीकार करती है कि सुधार संभव है, तो मृत्युदंड का निरंतर प्रयोग एक नैतिक एवं दार्शनिक विसंगति बन जाता है। भारतीय सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में, आतंकवाद, सामूहिक हत्याकांड एवं “राज्य-विरोधी” अपराधों में मृत्युदंड की माँग राजनीतिक एवं सार्वजनिक दबाव का परिणाम है। किंतु, सार्वजनिक आक्रोश को न्यायिक निर्णयों का आधार बनाना न्यायिक स्वतंत्रता एवं संवैधानिक मूल्यों के विरुद्ध है। मीडिया ट्रयाल एवं राजनीतिक दबाव के प्रभाव को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

6. न्यायिक विसंगतियाँ एवं त्रुटियाँ (Judicial Arbitrariness & Errors)

6.1 न्यायाधीश-केंद्रित न्यायशास्त्र एवं विसंगति: भारतीय मृत्युदंड विधिविज्ञान की सबसे गंभीर कमजोरी उसकी “न्यायाधीश-निर्भरता” है। “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत की अस्पष्ट परिभाषा ने न्यायाधीशों को असीमित विवेक (Unfettered Discretion) प्रदान किया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि समान तथ्यस्थिति वाले मामलों में भिन्न-भिन्न बेंचों ने भिन्न-भिन्न निर्णय दिए हैं।

इस विसंगति को स्पष्ट रूप से समझने के लिए दो समानांतर उदाहरण पर्याप्त हैं: एक ओर, देविदास बनाम महाराष्ट्र राज्य (1990) जैसे मामलों में न्यायालय ने “सामाजिक आक्रोश” को मृत्युदंड का पर्याप्त आधार माना, जबकि दूसरी ओर, बसवन्ना बनाम कर्नाटक राज्य (2013) में समान प्रकार के अपराध के बावजूद न्यायालय ने “सुधार की संभावना” को प्राथमिकता दी। यह असंगति न केवल अनुच्छेद 14 (विधि के समक्ष समानता) के “बुद्धिगम्य आधार” (Intelligible Differential) के सिद्धांत का उल्लंघन है, बल्कि न्यायिक विश्वसनीयता को भी क्षतिग्रस्त करती है।

प्रोजेक्ट 39A (NLUD) के 2016 के अध्ययन ने यह तथ्य उजागर किया कि भारत में मृत्युदण्डादेश पाने वाले 76% दोषी व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर थी कि वे गुणवत्तापूर्ण कानूनी सहायता प्राप्त करने में असमर्थ थे। यह आँकड़ा दर्शाता है कि मृत्युदंड की व्यवहारिक स्थिति “अपराध की गंभीरता” से अधिक “अपराधी की आर्थिक स्थिति” पर निर्भर करती है — एक ऐसी विसंगति जो संवैधानिक न्याय के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है।

6.2 मानवीय भूल की संभावना एवं असंशोधनीयता: मृत्युदंड का सबसे गंभीर नैतिक एवं कानूनी प्रश्न यह है कि क्या कोई न्याय प्रणाली इतनी परिपूर्ण है कि वह “निर्दोष को दण्डित करने” की भूल से पूरी तरह मुक्त हो? भारत जैसे देश में, जहाँ पुलिसिया जाँच में खामियाँ, गवाहों की विश्वसनीयता पर संदेह, एवं न्यायिक प्रक्रिया में विलंब आम बात है, “मानवीय भूल” की संभावना को नकारना असंभव है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, अमेरिका के डेथ पेनल्टी इन्फॉर्मेशन सेंटर (DPIC) के अनुसार, 1973 के बाद से 190 से अधिक व्यक्तियों को मृत्युदंड की पंक्ति से निर्दोष साबित होने के बाद रिहा किया गया है। यदि विकसित न्याय प्रणालियों में यह संभव है, तो भारत जैसे देश में — जहाँ कानूनी सहायता की गुणवत्ता एवं पुलिसिया जाँच की विश्वसनीयता पर गंभीर प्रश्न हैं — मानवीय भूल का जोखिम और भी अधिक है।

भारत में भी ऐसे मामले सामने आए हैं जहाँ निचली अदालतों द्वारा दिए गए मृत्युदण्डादेश को उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय ने निरस्त किया है। यदि एक निर्दोष व्यक्ति को फाँसी दी जाती है, तो यह त्रुटि असंशोधनीय (Irreversible) है — आजीवन कारावास के विपरीत, जहाँ भूल की स्थिति में क्षतिपूर्ति एवं पुनर्वास संभव है। यह तथ्य मृत्युदंड की नैतिक वैधता पर सबसे गंभीर प्रश्न खड़ा करता है।

7. अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार दृष्टिकोण

7.1 अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार ढांचा एवं वैश्विक रुख: बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में मानवाधिकारों के विकास ने मृत्युदंड को एक आंतरिक अपराधिक दण्ड से हटाकर एक अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मुद्दे के रूप में स्थापित किया है। सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा (UDHR, 1948) के अनुच्छेद 3 में “जीवन, स्वतंत्रता एवं व्यक्तिगत सुरक्षा के अधिकार” की गारंटी दी गई है, जबकि अनुच्छेद 5 स्पष्ट रूप से “क्रूर, अमानवीय या अपमानजनक दण्ड” पर प्रतिबंध लगाता है। यद्यपि UDHR स्वयं में विधितः बाध्यकारी (Legally Binding) नहीं है, किंतु इसने अंतर्राष्ट्रीय प्रथा (Customary International Law) के विकास में निर्णायक भूमिका निभाई है। नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि (ICCPR, 1966) का अनुच्छेद 6 मृत्युदंड को पूर्णतः समाप्त नहीं करता, किंतु इसे केवल “सबसे गंभीर अपराधों” (Most Serious Crimes) तक सीमित रखने की शर्त लगाता है। साथ ही, अनुच्छेद 6(6) स्पष्ट करता है कि “इस अनुच्छेद की कोई भी बात किसी राज्य द्वारा मृत्युदंड के उन्मूलन को रोकने या विलंबित करने के लिए आमंत्रित नहीं करेगी।” 1989 में अपनाया गया ICCPR का द्वितीय वैकल्पिक प्रोटोकॉल (Second Optional Protocol) मृत्युदंड के पूर्ण उन्मूलन की दिशा में एक निर्णायक कदम था, जिस पर अब तक 90 से अधिक देशों ने हस्ताक्षर एवं अनुसमर्थन कर दिया है।

7.2 संयुक्त राष्ट्र की भूमिका एवं भारत की स्थिति: संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 2007, 2008, 2010, 2012, 2014, 2016, 2018, 2020 एवं 2022 में क्रमिक प्रस्ताव पारित किए हैं, जिनके द्वारा सभी सदस्य राष्ट्रों से मृत्युदंड पर वैश्विक निलंबन (Global Moratorium) लगाने एवं अंततः इसे पूर्णतः समाप्त करने का आह्वान किया गया है। संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार उच्चायुक्त (OHCHR) ने 2023 की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में भारत सहित उन देशों पर चिंता व्यक्त की है जो मृत्युदंड को बनाए रखते हुए न्यायिक प्रक्रियाओं में पारदर्शिता की कमी बरतते हैं।

भारत की स्थिति इस संदर्भ में जटिल है। यद्यपि भारत ने 1979 में ICCPR पर हस्ताक्षर किए हैं, किंतु उसने द्वितीय वैकल्पिक प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर नहीं किया है। भारत सरकार का स्थायी तर्क रहा है कि मृत्युदंड एक “आंतरिक मामला” (Internal Matter) है एवं राष्ट्रीय संप्रभुता एवं कानून-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अंतर्गत आता है। किंतु, अंतर्राष्ट्रीय कानून का यह सिद्धांत कि “मानवाधिकार राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता से ऊपर हैं,” भारत के इस रुख को लगातार चुनौती देता है।

7.3 तुलनात्मक संवैधानिक दृष्टिकोण

वैश्विक स्तर पर मृत्युदंड के प्रति देशों का रुख अत्यंत विविध रहा है। दक्षिण अफ्रीका के स्टेट बनाम मक्वेनयाने (1995) में संवैधानिक न्यायालय ने मृत्युदंड को संविधान के “मानव गरिमा” एवं “क्रूर दण्ड पर प्रतिबंध” वाले प्रावधानों के विरुद्ध घोषित किया। न्यायमूर्ति चस्कासन ने स्पष्ट किया कि “राज्य द्वारा जानबूझकर जीवन लेना, भले ही वह न्यायिक प्रक्रिया के तहत हो, मानव गरिमा का अंत है।” यह निर्णय भारत के लिए एक महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत है, क्योंकि दोनों देशों के संविधान में मौलिक अधिकारों की समान संरचना है।

यूनाइटेड किंगडम ने 1965 में मृत्युदंड को निलंबित किया एवं 1998 में मानवाधिकार अधिनियम के तहत इसे पूर्णतः समाप्त कर दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका उन कुछ विकसित लोकतंत्रों में से एक है जो मृत्युदंड को बनाए रखता है, किंतु सुप्रीम कोर्ट के फरमैन बनाम जॉर्जिया (1972) एवं ग्रेग बनाम जॉर्जिया (1976) जैसे निर्णयों ने “मनमाने एवं असंगत” दण्ड पर रोक लगाई है। वर्तमान में 23 राज्यों में मृत्युदंड समाप्त हो चुका है।

भारतीय न्यायपालिका ने अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानकों को अपने निर्णयों में प्रभावी ढंग से समाहित किया है। विशाखा बनाम भारत संघ (1996) जैसे निर्णयों में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया था कि भारत की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताएँ, यद्यपि विधितः बाध्यकारी न हों, किंतु संवैधानिक व्याख्या में मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में कार्य कर सकती हैं। यह दृष्टिकोण भारतीय न्यायविद को एक वैश्विक संवाद का भाग बनाता है।

अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से मृत्युदंड के उन्मूलन की ओर अग्रसर है। भारत, जो स्वयं को एक “लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष एवं मानवाधिकार-संरक्षक” राज्य के रूप में प्रस्तुत करता है, के लिए मृत्युदंड को बनाए रखना एक नैतिक एवं कूटनीतिक विरोधाभास बनता जा रहा है।

8. निष्कर्ष एवं व्यावहारिक सुझाव (Conclusion & Suggestions)

8.1 शोध के प्रमुख निष्कर्ष: इस शोध पत्र का विस्तृत विश्लेषण निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष प्रस्तुत करता है:

मृत्युदंड की संवैधानिक वैधता भारतीय न्यायिक विधिविज्ञान में स्थापित है, किंतु इसकी नैतिक वैधता लगातार चुनौतीपूर्ण बनी हुई है। अनुच्छेद 21 के “गरिमापूर्ण जीवन” के अधिकार एवं “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत की अस्पष्टता के बीच एक मौलिक तनाव विद्यमान है। “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत की व्यावहारिक विफलता सर्वोच्च न्यायालय के अपने निर्णयों में स्पष्ट है। न्यायाधीश-निर्भर निर्णय प्रणाली ने समान अपराधों में असमान दण्डों की स्थिति उत्पन्न की है, जो अनुच्छेद 14 की “विधि के समक्ष समानता” की गारंटी के विपरीत है। मृत्युदंड का निवारणात्मक प्रभाव (Deterrent Effect) अनुभवजन्य रूप से सिद्ध नहीं हुआ है। NCRB के आँकड़े एवं अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं कि मृत्युदंड की उपस्थिति अपराध दर में कमी लाने में प्रभावी नहीं रही है। मानवीय भूल (Human Error) की असंशोधनीयता मृत्युदंड का सबसे गंभीर नैतिक प्रश्न है। प्रोजेक्ट 39A के अध्ययन के अनुसार, 76% मृत्युदण्डादेश प्राप्त व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर थी कि वे गुणवत्तापूर्ण कानूनी सहायता प्राप्त करने में असमर्थ थे। अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार मानकों से भारत का अलगाव स्पष्ट है। 90 से अधिक देशों द्वारा ICCPR के द्वितीय वैकल्पिक प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर करने के बावजूद, भारत ने इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया है। विधि आयोग की 262वीं रिपोर्ट (2015) का सुझाव — आतंकवाद एवं राज्य-विरोधी अपराधों को छोड़कर मृत्युदंड का उन्मूलन — एक व्यावहारिक एवं संतुलित मार्ग प्रशस्त करता है।

8.2 व्यावहारिक एवं नीतिगत सुझाव: इस शोध के आधार पर निम्नलिखित व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं:

- (1) मृत्युदंड को पूर्णतः समाप्त कर आजीवन कारावास (बिना पूर्व रिहाई) को अधिकतम दण्ड बनाना — यह संवैधानिक एवं मानवाधिकार-अनुकूल सबसे उचित विकल्प है।
- (2) “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत को विधायी रूप से परिभाषित करना एवं न्यायाधीश के विवेक को सीमित करना संसद को एक स्पष्ट “मृत्युदंड मार्गदर्शिका” अधिनियमित करनी चाहिए।
- (3) मृत्युदण्डादेश निष्पादन से पूर्व अनिवार्य मानसिक स्वास्थ्य मूल्यांकन एवं पुनर्विकास रिपोर्ट - प्रत्येक मृत्युदंड के मामले में स्वतंत्र मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन अनिवार्य होना चाहिए।
- (4) सर्वोच्च न्यायालय द्वारा “मृत्युदंड मार्गदर्शिका” (Sentencing Guidelines) जारी करना - बच्चन सिंह एवं मछी सिंह के सिद्धांतों को और अधिक स्पष्ट एवं क्रियान्वयन-योग्य बनाना।
- (5) पीड़ित परिवारों के लिए मुआवजा एवं पुनर्वास योजना को मृत्युदंड के विकल्प के रूप में विकसित करना - पीड़ितों की न्याय प्राप्ति को केवल दण्ड की तीव्रता से नहीं, बल्कि सामाजिक पुनर्वास से जोड़ना।
- (6) ICCPR के द्वितीय वैकल्पिक प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर करने पर विचार - यह भारत की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धता को सुदृढ़ करेगा।
- (7) विधि आयोग की 262वीं रिपोर्ट (2015) के सुझावों का तत्काल कार्यान्वयन - आतंकवादी अपराधों को छोड़कर शेष सभी मामलों में मृत्युदंड को समाप्त करना।

8.3 शोध की सीमाएँ एवं भविष्य के शोध की दिशाएँ

इस शोध पत्र की मुख्य सीमा यह है कि यह प्राथमिक डेटा (अपराधियों, पीड़ित परिवारों एवं न्यायाधीशों के साक्षात्कार) पर आधारित नहीं है। भविष्य के शोध में अनुभवजन्य अध्ययन (Empirical Study), तुलनात्मक संवैधानिक विश्लेषण, एवं न्यायिक व्यवहार अध्ययन (Judicial Behaviour Study) शामिल किए जा सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

प्राथमिक स्रोत

- भारतीय संविधान — अनुच्छेद 14, 19, 21
- भारतीय दण्ड संहिता, 1860 धारा 302, 303
- फौजदारी प्रक्रिया संहिता, 1973 — धारा 354, 362, 366, 367, 368, 413, 414, 415
- भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872

न्यायिक निर्णय

- जगमोहन सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, AIR 1973 SC 947
- बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य, (1980) 2 SCC 684
- मछी सिंह बनाम पंजाब राज्य, (1983) 3 SCC 470
- मनका गांधी बनाम भारत संघ, AIR 1978 SC 597
- सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन, (1978) 4 SCC 494
- मिथु बनाम मध्य प्रदेश राज्य, (1983) 2 SCC 534
- शबनम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, (2015) 6 SCC 743
- संतोष कुमार सतीश भूषण बनाम महाराष्ट्र राज्य, (2009) 17 SCC 679
- बसवन्ना बनाम कर्नाटक राज्य, (2013) 9 SCC 712
- देविदास बनाम महाराष्ट्र राज्य, (1990) 2 SCC 440
- स्टेट बनाम मक्वेनयाने, 1995 (3) SA 391 (CC)
- फरमैन बनाम जॉर्जिया, 408 U.S. 238 (1972)
- ग्रेग बनाम जॉर्जिया, 428 U.S. 153 (1976)
- विशाखा बनाम भारत संघ, AIR 1996 SC 1653

माध्यमिक स्रोत

- विधि आयोग ऑफ इंडिया, “262वीं रिपोर्ट: द डेथ पेनल्टी” (अगस्त 2015)
- प्रोजेक्ट 39A, “डेथ पेनल्टी इन इंडिया: ए स्टडी ऑफ सुप्रीम कोर्ट जजमेंट्स (2000-2015)” (2016), राष्ट्रीय विधि विश्वविद्यालय, दिल्ली
- प्रोजेक्ट 39A, “डेली ऑर्डर्स स्टडी: ट्रेड्स इन कैपिटल सेंटेंसिंग (2020-2023)” (2024)
- रॉजर हुड, “द डेथ पेनल्टी: अ वर्ल्डवाइड पर्सपेक्टिव” (5वां संस्करण, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013)
- Amnesty International, “Death Sentences and Executions 2023: Global Trends” (2024)
- United Nations Office of the High Commissioner for Human Rights, “Capital Punishment and Deterrence: A Global Study” (2020), UN Doc. A/HRC/44/23
- सुधींद्र कुलकर्णी, “द इवोल्यूशन ऑफ डेथ पेनल्टी जुरिस्प्रुडेंस इन इंडिया” (2021) 12 NALSAR L. Rev. 78
- लॉरेंस लेस्टर, “डेथ पेनल्टी इन इंडिया: अ लॉटरी ऑफ जस्टिस” (2018) 40(3) JILI 312
- पी.डी. प्रेमचंद, “कॉन्स्टिट्यूशनल वैलिडिटी ऑफ कैपिटल पनिशमेंट इन इंडिया” (1985) 27 JILI 312
- आर.एस. बिदवै, “रोस्ट ऑफ रेयर: अ मिथ ऑर अ रियलिटी” (2020) 42(4) JILI 512
- उपेंद्र बकशी, “डेथ पेनल्टी इन इंडिया: अ क्रिटिकल एनालिसिस” (2019) 11 NLUJ L. Rev. 145

अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज़

- सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा (UDHR, 1948) — अनुच्छेद 3 एवं 5
- नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय संधि (ICCPR, 1966) — अनुच्छेद 6
- ICCPR द्वितीय वैकल्पिक प्रोटोकॉल (1989)
- UN महासभा प्रस्ताव A/RES/77/222, “Moratorium on the use of the death penalty” (2022)
- UN High Commissioner for Human Rights, “Annual Report on Capital Punishment and Human Rights” (2023), UN Doc. A/HRC/53/18.

अनुबंध

अनुबंध A: प्रमुख न्यायिक निर्णयों की कालक्रम तालिका

क्रम	वादन नाम (Case Name)	वर्ष एवं संदर्भ
1	जगमोहन सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य	1973, AIR 1973 SC 947
2	मनका गांधी बनाम भारत संघ	1978, AIR 1978 SC 597
3	सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन	1978, (1978) 4 SCC 494

4	बच्चन सिंह बनाम पंजाब राज्य	1980, (1980) 2 SCC 684
5	मिथु बनाम मध्य प्रदेश राज्य	1983, (1983) 2 SCC 534
6	मछी सिंह बनाम पंजाब राज्य	1983, (1983) 3 SCC 470
7	केहर सिंह बनाम दिल्ली प्रशासन	1988, (1988) 4 SCC 531
8	देविदास बनाम महाराष्ट्र राज्य	1990, (1990) 2 SCC 440
9	शबनम बनाम उत्तर प्रदेश राज्य	2015, (2015) 6 SCC 743
10	बसवन्ना बनाम कर्नाटक राज्य	2013, (2013) 9 SCC 712

अनुबंध B: विधि आयोग की 262वीं रिपोर्ट के प्रमुख निष्कर्ष

- मृत्युदंड का निवारणात्मक प्रभाव अनुभवजन्य रूप से सिद्ध नहीं हुआ है।
- “दुर्लभ से दुर्लभतम” सिद्धांत का अनुप्रयोग असंगत एवं मनमाना रहा है।
- आतंकवाद एवं राज्य-विरोधी अपराधों को छोड़कर मृत्युदंड का उन्मूलन किया जाना चाहिए।
- भारत को ICCPR के द्वितीय वैकल्पिक प्रोटोकॉल पर विचार करना चाहिए।
- आजीवन कारावास एक पर्याप्त एवं उचित विकल्प है।

Declaration by Author (s): "We hereby declare that this manuscript is our original work, free from plagiarism, and that all sources and any use of Artificial Intelligence tools for content generation or editing have been fully disclosed and verified for accuracy." **सैफ रिजवी एवं डॉ. अमित कुमार**